"उछल पड़ा दिल बल्लियों,
देख अनुज के काम।
शेष उमर अपनी करूँ,
भाई तेरे नाम।।"

डॉ. जगमोहन शर्मा
05/10/17

5/10/2017

गृह निवास से

* ओ३म् *

आर्य जगत के सब से कम आयु के बहुचर्चित लेखक की लेखनी से—

विश्व के— वर्तमान संदर्भ और आर्य समाज

कैलाश सत्यार्थी
छात्र
विद्युतीय इंजीनियरिंग (अंतिम वर्ष)
सम्राट अशोक अभियांत्रिकी महाविद्यालय,
विदिशा (म० प्र०)

प्रकाशक:
पं० महीपाल सत्यार्थी
एम. एस-सी (गणित) शोधछात्र
आर्य समाज श्रद्धानन्द पथ,
विदिशा (म० प्र०)

मूल्य
एक रुपया मात्र

भूमिका

पिछले दिनों आर्य समाज पर मेरे कुछ लेख स्थानीय समाचार पत्रों और मासिक 'जनज्ञान' में प्रकाशित हुए थे। बड़े विवादास्पद रहे। शायद इसी विवाद से प्रेरित होकर मेरे कुछ नवयुवक साथियों ने उन्हें जोड़ कर व काटछांट कर एक पुस्तिका सी तैयार कर ली है और प्रकाशित करा रहे हैं।

एक मात्र आर्य, जिन्हें मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से श्रद्धा कर सका हूँ, ने एक बार मुझे किसी व्यक्ति या संस्था के कार्यों को परखने की कसौटी बताई, 'उस कार्य से समाज के आखिरी व्यक्ति का कितना भला हो पा रहा है।' आखिरी व्यक्ति से उनका मतलब था वह जो सामाजिक अन्याय, अज्ञानता या अभाव के कारण सबसे अधिक पीड़ित है। महर्षि दयानन्द ने हमें वह कार्यक्रम दिया था, किन्तु उनके पश्चात श्रद्धानन्द, लेखराम, लाला लाजपत राय, बिस्मिल, भगतसिंह, श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि अधिकतम् १०-१५ महापुरुषों के बाद आखिरी आदमी की बात आर्य समाज सोच भी न पाया। पिछले २५-३० सालों से लगातार इन्हीं महामानवों के गीत गा-गा कर एक पूरी पीढ़ी वृद्ध हो गई और दूसरी नई पीढ़ी का मस्तिष्क जवान होने से पहले ही वृद्ध हो गया, किन्तु एक भी ऐसा सपूत नहीं दिखता जो समूची इंसानियत के लिए तिल-तिल जल कर आत्मोत्सर्ग कर सके।

इन सभी महामानवों का चरित्र या आर्य समाज तो वे साधन हैं जिनसे हमें आखिरी आदमी की भलाई का बीड़ा उठाना था, किन्तु आर्य समाजियों ने इन्हें साध्य ही मान लिया तथा उन्हीं की पूजन व ठेकेदारी शुरू कर दी। दयानन्द साधन है और रोटी, कपड़े या दवाई के अभाव में दम तोड़ता विश्व का कोई भी इंसान साध्य। साध्य हमेशा साधन से महत्वपूर्ण होता है। वह दयानन्द से ज्यादा कीमती और जरूरी है। हमें इस अंतर को स्पष्ट समझ लेना है।

ये सारे महापुरुष अतीत थे और प्लेटफार्म पर बूट पॉलिश करता कोई ग़रीब बालक भविष्य। भविष्य ज्यादा कीमती है। उसी में एक नहीं, अनेकों दयानन्द, श्रद्धानन्द भरे पड़े हैं।

सामान्यत: नई पीढ़ी या आम बुद्धिजीवियों की शिकायत रहती है कि आर्य समाजी विद्वान और नेता वर्तमान संदर्भों में आर्य समाज की आवश्यकता प्रतिपादित तो करते हैं किन्तु वही अतीत की दुहाई देकर। न तो वह यह बता पाते कि आर्य समाज है क्या ? और न ही वर्तमान संदर्भों की बात खुले दिमाग से करते। मेरे अनेकों मित्रों ने मुझ से भी यही शिकायत की। लगता है वे सही कहते हैं।

आज की दुनियां और आर्य समाज दोनों ही के बारे में मैं अंतिम बात कुछ भी मानता, हाँ जानने का प्रयत्न अवश्य ही किया करता हूँ। जानने की इस क्रिया में आज अपनी नंगी आँखों से जो भी देख पा रहा हूँ जान पा रहा हूँ, लिख दिया।

यद्यपि मुझे संदेह है—आर्य समाज के ठेकेदार, वेद और ज्ञान के तोते, पदों और सम्पत्ति को बपौती समझने वाले मठाधीस, ६०-६० और ७०-७० साल के 'युवा' आर्यवीर तथा थोथी राजनैतिक व साम्प्रदायिक दलबन्दियों के पिछलग्गू आर्य नेता मेरी बात को दुराग्रहों से मुक्त होकर समझने की कोशिश करेंगे। किन्तु आर्य समाज की नई पीढ़ी से बड़ी अपेक्षा है। यदि मेरे नौजवान साथियों में से एक भी मेरी बात समझ सके और मानवता के आखिरी व्यक्ति की भलाई के लिए जी सकने, मर सकने का संकल्प लेले तो मेरा यह लेख सार्थक हो जायगा।

—कैलाश सत्यार्थी

॥ ओ३म् ॥

परिवर्तन की बुनियादी प्रक्रिया

प्रगति, उन्नति, विकास, उत्थान, जिस बुनियादी प्रक्रिया के परिणाम हैं,वह है परिवर्तन। ऐतिहासिक आधारभित्ति पर आदिमयुगीन अर्द्धनग्न मानव सभ्यता से लेकर, आधुनिकतम सभ्यता के चिन्ह नग्न "बीटल' के रुप में प्राप्त हैं। घर्षण द्वारा अग्नि की खोज से परमाण्वीय ऊर्जाश्रोतों व सौर ऊर्जा उत्पादकों के निर्माण तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया परिवर्तन के कारण ही है। मानव जाति के जिन मनीषियों, दार्शनिकों ने जीवन व जगत को जानने का यत्न किया, उन्होंने परिवर्तन की इस शास्वत प्रक्रिया को समझने का यत्न भी किया। चूँकि प्रकृति का प्रत्येक कार्य क्रमवद्ध है अत: इतिहास, सभ्यता या संस्कृति के आयामों में परिवर्तन का भी कोई क्रम होना चाहिए, और उसकी परिकल्पना ने विश्व के सभी मतों, विचारधाराओं तथा वादों को प्रभावित किया। परिवर्तन के शास्वत नियमों के प्रति आस्था की अतिरेकता ने जहां एक बहुत बड़े मानव समुदाय को भाग्यवादी बना दिया, वहीं इनके प्रति अनास्था के भाव ने लोगों को निरीश्वर वादी भी बनाया।

कतिपय चिंतक परिवर्तन का बुनियादी कारण 'अर्थ' या धन मानते हैं, कुछ उत्पादन के साधनों का विकास मानते हैं, कुछ भिन्न देशों की भौगोलिक परिस्थितियों को उत्तरदायी बताते हैं और कुछ 'काम व्यापार' (Sex relation) की बात करते हैं। किन्तु ये सारे चिंतन बड़े स्थूल हैं, क्योंकि ये सारी बातें जड़ता की प्रतीक हैं और मानवीय कार्य व्यापार चेतनात्मक है या चेतनसत्ता की अभिव्यक्ति है। स्थूल का कारण सूक्ष्म हो सकता है सूक्ष्म का स्थूल नहीं।

दूसरी ओर ऐसे चिंतन भी आविर्भूत हुए जो सब कुछ 'प्रभु इच्छा' या 'होइ है वही जो राम रचि राखा' कहकर भाग्यवादिता की पराकाष्ठा पर पहुंचते हैं। यदि ईश्वर ही अपनी स्वेच्छा से (किसी के आधार पर नहीं) दु:ख या सुख देता है तो ऐसे ईश्वर को मानना सबसे बड़ी भूल होगी व

अबतो ईश्वर परमपिता नहीं कोई तानाशाह हो गया, किन्तु वास्तविकता कुछ और है। मानव स्वयम् ही अपने दुःख या सुख का निर्माता है। चूँकि इनका अनुभव भी भीतरी है, अतः इनके नियंत्रण की वैज्ञानिक पद्धति भी भीतरी होना चाहिए।

संसार जिन शास्वत नियमों पर नियंत्रित या परिवर्तित होता है भारतीय दर्शन उन्हें "ऋत्" से सम्बोधित करता है। ऋत् की खोज 'सत्य' के सापेक्ष है और सत्य की खोज का मार्ग इन्द्रिय जनित जगत के बाह्य आवरणों को हटाकर अंतर्प्रवेश है। "संसार में सत्य का मुंह सुनहरे ढंकने से ढका है, आप उसे परे हटा दीजिए ताकि सत्य का दर्शन किया जासके।"[1]

परिवर्तन के इस नियम और प्रक्रिया को जाने बिना आज मानव जाति में सुधार, उसे सुखी बनाने के प्रयत्न या विश्व-शांति के प्रयास निराधार ही हैं। किसी रोग का स्थाई उपचार उसके हेतु को मूलतः नष्ट करने से ही सम्भव है। किसी रोगी का बुखार उतारने के लिये उसे ठण्डे पानी से नहला दिया जाय अथवा शीत लगने पर गर्म पानी डाला जाय यह कहां तक उचित हैं? सामान्य चिकित्सक शीत के कारण को जानकर मान लीजिये मलेरिया का अनुमान लगाता है, तो उसे 'नीवाक्वीन' या रीसो-चिन देगा, किन्तु यह स्थाई उपचार नहीं हुआ, मलेरिया का मुख्य कारण तो मच्छर है, इन्हें नष्ट करना पड़ेगा, और इन्हें नष्ट करने, इनके हेतु कचरा, कीचड़, गन्दगी को मिटाना होगा। उपचार में स्थायित्व तभी सम्भव है। अतः पहले परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाय।

बाहरी जगत में जो हम करते हैं या जो भी घटनात्मक होता है, मिलकर इतिहास बनता है। यदि प्रथक-२ देशों का अथवा समग्र मानव जाति का ऐतिहासिक विवेचन किया जाय, तो बड़े रोचक तथ्य मिलते हैं। स्थूल रुप से भले ही कहा जाय कि 'मानवता' प्रगति कर रही है, किन्तु दार्शनिक

(१) हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्।
तत्वं पूषन्न पावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ -यजुर्वेद ४०.१५

किसी भी क्रिया के साथ-साथ समान प्रतिक्रिया को मान्यता भी देते हैं। जो बढ़ रहा है वही घट रहा है। जो उत्पन्न हुआ है उसे नष्ट होना है और जो नष्ट होगा उसे उत्पन्न होना है।[1]

घटनाओं में परिवर्तन सभ्यता के विकास पर आधारित है यह निर्विवाद है। घटना जिस तेजी से बदलती हैं सभ्यता में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत बहुत कम है।

सभ्यता को परिवर्तित करने वाले आधारभूत तत्वों के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत में बड़ा मतभेद है। एक ओर जहां हीगल जैसे विचारवादी (idealists) चेतन में आस्था रखते हुए परिवर्तन के नियम को क्रिया (Thesis), उसके साथ चलने वाली प्रतिक्रिया (Antithesis) और दोनों के द्वंद से उत्पत्तित समन्वित क्रिया (synthesis) के रुप में प्रतिपादित करते हैं, वहीं दूसरी ओर कार्लमार्क्स जैसे जड़वादी ने, इतिहास की आर्थिक व्याख्या (The economic Interpretation of History) अविष्कृत की[2]। आज संसार में बहुत बड़ी संख्या में लोग इस सिद्धांत में विश्वास रखने लगे हैं, यही कम्युनिज्म [समूहवाद] की आधार शिलाओं में से एक है। वस्तुतः इसका आधार ही जड़वाद है। पिछले दिनों मद्रास में एक जड़वादी विद्वान से भेंट हुई, बड़े सामाजिक कार्यकर्ता थे मैंने

(1) Analyst of history would do well to remember that if 'That which is born must die' is true of people and historical groups as carriers of civilisation and even of human civilisation as such and its cultural catogories "That which dies must be born again" is equally true.
Wheel of History P. 8 By Dr. Lohiya

(2) The materialistic conception of history is that the chief fundamental factor in the development of any nation or any society is the economic factor.- Edward Aveling's, Charls Darwin and Karl marx. P. 10-11

प्रश्न किया 'श्रीमान जीवन क्या है' बड़ा प्रत्यासित सा उत्तर दिया उन्होने "Life is an organised matter" जीवन जड़ द्रव्य का एक नियंत्रण या संगठन मात्र है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। मैंने फिर पूछा यह नियंत्रण या संगठन (organisation) कैसे होता है, चूंकि यह कार्य है अतः बिना कारण के सम्भव ही नहीं ? वे बोले– इसका कारण भी जड़ (matter) ही होगा। यद्यपि आयु और अनुभव में मैं उनसे एक तिहाई भी नहीं था, किन्तु मैं जानता हूँ कार्य–कारण के मूलभूत संबधों की कोई वैज्ञानिक व्याख्या वे न कर सके। मैंने फिर सीधा सा प्रश्न किया 'आप समाज सेवा जैसा महान कार्य करते हैं, क्यों ?' उनका उत्तर था 'मुझे मजदूरों और गरीबों से गहरी सहानुभूति है जो पूंजीपतियो के अत्या-चारों से पीड़ित हैं।'

बड़ी विचित्र सी बात है जब जीव ही जड़ है और जड़त्व का ही विकास है तब कैसी सहानुभूति ? कैसा दुःख और सुख ? कैसा जीवन और कैसी मृत्यु ? यथार्थ कुछ दूसरा ही है। जड़ेतर एक चेतन सत्ता अवश्य ही है जो नियंत्रण (organisation) का कारण है और सुख या दुःख की अनुभूति का भी। राम जंगलों में भटकते हैं, कृष्ण गीता सुनाते हैं, राजकुमार सिद्धार्थ बुद्ध बनते हैं, और वर्द्धमान महावीर, ईसा सूली पर चढ़ते हैं और मुहम्मद आत्मोत्सर्ग करते हैं तथा दयानन्द विषपान करते हैं. क्या यह सब 'अर्थ' के कारण ही है ? एक लखपती, शराब के शौक में सारी दौलत फूंक देता है, एक करोड़पती की लड़की किसी ग़रीब लड़के से प्रेम हो जाने पर सब कुछ ठुकरा सकती है, एक कामी पुरुष किसी वेश्या के लिए हत्याएें तक कर बैठता है, क्या इनका कारण भी 'अर्थ' ही है ? निश्चय ही यह नहीं है। हमें सभ्यता में परिवर्तन के कारणों पर आँतरिक दृष्टिपात करना होगा। किसी समाज या देश की सभ्यता का बदलाव, उसके सांस्कृतिक-बदलाव के साथ जुड़ा है। संस्कृति का शनैः शनैः परिव–र्तन, सभ्यता में परिवर्तन लाता है। एक भारतीय के धोती-कुरता पहनने में सादगी की या बातचीत का ढंग या अपनी रोजी के प्रति दृष्टिकोण में

उसकी सांस्कृतिक दासता और समन्वयता की झलक मिलती है तो बुर्कों में इस्लाम संस्कृति में नारी के स्थान का आभास हो जाता है, अथवा सूट-बूट, टाई से हमें अग्रेजों की, दुनिया को गुलाम बनाने और शासन करने वाली संस्कृति के 'अह' का ज्ञान होता है। बदलती तो संस्कृति भी है किन्तु उस को गति देने और नियंत्रित करने वाली कोई शक्ति है। और वह है विचार। समसामयिक और एक ही तरह के विचार एक विचारधारा का रूप ग्रहण करते हैं तथा कोई शक्तिशाली विचारधारा मत, मजहब या रिलीजन बन जाती है। विश्व के सारे देशों के इतिहास अथवा समग्र मानव जाति ही के सांस्कृतिक परिवर्तन का इतिहास, विचारों के परिवर्तन का इतिहास है। "किसी विधेयात्मक कल्याणकारी विचारधारा काआविर्भाव ही वास्तव में इतिहास का स्वर्णकाल होता है, ऐसा इतिहासकार टायनवी मानता है"।

यद्यपि व्यक्ति के विचारों में जिस क्षणिक परिवर्तन का आभास होता है, वह सतही ही है और उसके चेतन मन से जुड़ा है जबकि व्यक्ति के या समाज के बुनियादी विचारों में परिवर्तन की गति बड़ी कम है, यह उनके अवचेतन से जुड़े रहते हैं। कहा जाता है विचार केवल परिस्थितियों से बनते हैं। फिर भला परिस्थितियां कैसे बनती है ? कहा जाता है कार्यों से, और कार्य कैसे होते हैं ? तब एक ही उत्तर देना पड़ेगा, विचारो से। विचार ही अविनाशी है क्योंकि उसमें ऊर्जा हैं, और ऊर्जा नष्ट नहीं होती। विचारों को यह ऊर्जा कहाँ से प्राप्त होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'चेतना' को स्वीकारना ही वैज्ञानिक तथ्य है। विकारग्रस्त चेतना से निर्बल और ऋणात्मक विचारों की उत्पत्ति होती है जिन्हें विकल्प की संज्ञा दी जा सकती है, संस्कृत चेतना से सबल और धनात्मक विचार उत्पन्न होते हैं

1.–The great periods of man would not be when empires were built, but when great relegions like Islam and Christianity and Buddhism were born and spread.–
Toyanbee —Cyclical and pseudo cyclical views

जिन्हें 'संकल्प' कहना होगा। स्थूल रुप से संस्कार और विकार दोनों ही संज्ञाएं स्थिति सापेक्ष लगती हैं तथा कोरे व बुद्धिवादी तरीके से इनके बीच कोई विभाजक रेखा खींचना भी असंभव है क्योंकि व्यक्ति सीमित है, और सीमा निरपेक्ष नहीं होती। अत: यहां किसी पूर्ण और चेतन सत्ता की मान्यता की आधारभित्ति पर ही समय, स्थान और स्थिति की सीमाओं मे परे कुछ शास्वत मूल्यों को व्यवहृत करना ही चेतना को सस्कृत करना होगा।

विचार (संकल्प) ही, संसार की सम्पूर्ण दृश्य गतिशीलता का कारण है। पूर्वी और पश्चिमी दोनो ही दर्शनों ने अनादिकाल से विचारों की शुद्धता या मन की शुद्धता को ही दृश्य जीवन का साध्य और अदृश्य जीवन के लक्ष्य का साधन स्वीकार किया है। जिस देश या समाज के घटकों के विचार पवित्र हैं सही अर्थों में वही सुखी है। प्रसिद्ध लेखक मिल्टन ने लिखा है 'स्वर्ग को नर्क और नर्क को स्वर्ग बनाना केवल मन का काम है।[1] प्रसिद्ध अमेरिकी चिंतक मार्डन ने विचार (मन) की महत्ता को स्वी-कारते हुए लिखा है 'तुम अपने संकल्पों को नियंत्रित करके अपनी भवित-व्यता को नियंत्रित कर सकते हो।[2] और 'विचार ही कच्चा माल है जिससे चीजें बनती हैं।'[3]

वैदिक वाङ्मय विचारों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान देता हैं। जब प्रलय हो चुकता है तो पुन: जगत की उत्पत्ति 'विचार' से ही होती है। प्रकृति जड़ है। जब सर्वव्यापक ईश्वर में संसार की उत्पत्ति का विचार (ईक्षण) आता है तभी उसमें गति उत्पन्न हो जाती है अर्थववेद में कहा है 'सबसे

1.-The mind in its own place and in it self can make a heaven of hell and a hell of heaven. —(Milton)

2.-Control your thoughts and you control your destiny.

3;-Thought is the stuff, out of which things are made;— —Marden

पहले संकल्प उत्पन्न हुआ।[1] ऋग्वेद में भी यही बात कही है।[2] महानारायण उपनिषद में कहा है 'काम ही सबका कर्त्ता है। कर्त्ता मैं नहीं हूं, काम (संकल्प) ही करता व कराता है।[3] इसीलिये शिव संकल्प सूक्त में संकल्पों की पवित्रता की कामना की गई है।[4]

विचारों (संकल्पों) की पवित्रता, व्यष्टि और समष्टि के तथा इस लोक व पर लोक के कल्याणकारी शाश्वत नैतिक नियमो (धर्म)[5] का पालन करने से होती है। धर्म कोई मानने वाले सिद्धान्त नहीं, जीवन में घटने वाला व्यवहार है। और यह मोटे-मोटे ग्रन्थो या लम्बे चौड़े भाषण में नहीं, न ही किसी महात्मा और पैगम्बर के उपदेश में है। इनमें केवल उसकी जानकारी अथवा उसको व्यवहार में लाने की विधियाँ हैं। धर्म शाश्वत है इसलिए सत्य है। सत्य, ज्ञानगम्य नहीं अनुभवगम्य होता है। इस सत्य की प्राप्ति के लिए अथवा धर्म के पालन के लिये अथवा विचारों की पवित्रता के लिए एक नियत सांचे में अपने जीवन को ढालना पड़ेगा। इसका तात्पर्य नहीं कि जीवन को एक रुढ़ी या परम्परा से बांधना है, अपितु प्रगति का एक मार्ग निश्चित करना है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वाभाविक स्थिति में परिवर्तन भीतर से बाहर की ओर होता है। ऊर्जावान् धनात्मक विचार अपनी गतिज ऊर्जा से अपनी बाहरी सतह (संस्कृति) को गतिशील बनाता है। इसी तरह संस्कृति सभ्यता को और सभ्यता घटना क्रम को गति देती है। यही स्थिति वास्तविक प्रगति की स्थिति है। किन्तु जब विचारों में ऊर्जा की मात्रा इतनी कम हो जाए कि बाहरी सतहो को गतिज

१.-कामो यज्ञे प्रथम: ॥ [अथर्व ६।२।१६]

२.-मनसो देव: प्रथम यदासीत् ॥ [ऋग्० १०। १२९। ४

३.-कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, काम: करोति, काम: कर्त्ता, काम: कारयिता ॥

४.-..........तन्मे मनः शिव सकल्पमस्तु ॥ यजु० ३४। १-६

५.-धृति, क्षमा, दमोस्तेयं, शौचमिन्द्रिय निग्रह।
धी: विद्या, सत्यमक्रोधा दशमं धर्म लक्षणम् ॥ मनु स्मृति

ऊर्जा न दे सके तब इससे ठीक विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण व्यवस्था-बाहरी सतहों में संग्रहीत स्थितिज ऊर्जा से गतिशील होती है और परिवर्तन का क्रम बाहर से भीतर की ओर हो जाता है। बस यहीं से लकीर पीटने का काम शुरू हो जाता है और सारी चेतना ही अतीतोन्मुख हो जाती है। वर्तमान समय में मानव जाति के थोड़े से अंश को छोड़ कर शेष पूरी की स्थिति यही है। घटनायें, सभ्यता, संस्कृति आदि बाहरी सतहों से हमारे अवचेतन के विचार संचालित होते हैं।

विश्व के वर्तमान संदर्भ—विकास या विनाश

उपर्युक्त विवेचन केवल सैद्धान्तिक है जिससे एक बात स्पष्ट है कि आज संसार में नैतिकता तथा समष्टिगत चेतना के ह्रास के कारण मानवता का विकास नहीं अपितु पतन ही हो रहा है। किन्तु मेरे अनेकों मित्र इस बात से सहमत नहीं होंगे, कुछ इसे 'नई उम्र में पुराने मस्तिष्क की उपज कह सकते हैं। उन्हें स्पष्टतः समझ लेना चाहिये कि हम बढ़ तो रहे हैं पर उस दियासलाई की तीली पर, जिस पर हमारा एक छोर रोगन वाले हिस्से तक पहुँच गया है और दूसरा भी पीछे से वहीं पहुंचने का प्रयास कर रहा है। मुझे कहने की आवश्यकता नहीं—वहाँ आपस में लड़कर हमारा भविष्य क्या होगा? विश्व के पाँच छः राष्ट्रों द्वारा आणविक अस्त्र बना लिये गये हैं जिनका उपयोग और मानवता का विनाश लगभग पर्यायवाची हैं। यह हमारी प्रगति (?) का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अब इस प्रगति को थोड़े अन्दर से देखा जाय।

जब भी निष्पक्षता से वर्तमान संदर्भों की बात की जाय तो दुनियां के गोले पर एक गहरी वक्र रेखा जरूर उभर आती है। मैंने बहुत प्रयत्न किया था कभी कि अमीर और गरीब देशों के बीच की लक्ष्मण रेखा से अलग हट कर कुछ सोचा जाय—किन्तु लगता है ऐसा करना शायद सबसे बड़ी बौद्धिक और भावनात्मक भूल होगी-किंवा आत्मघात

ही होगा। यद्यपि यह सत्य है कि नैतिकता की आधार भित्ति पर अमीर और गरीब को अलग-२ कर लेना आसान नहीं है। बहुत उदार व नैतिक, अमीर भी हो सकते हैं और गरीब भी। किन्तु जब समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य में सोचा जाय तो अमीर और गरीब देशों के बीच लगातार बढ़ रहा फासला कदापि उचित नहीं है। अमीरी और गरीबी को दो भागों में बांटने वाली रेखा के उत्तर में अमेरिका, यूरोप, रूस और जापान तथा दक्षिण की ओर लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के देश आते हैं। गोरे लोगों की एक छोटी दुनियां एक तरफ है और रंगीन लोगों की बहुत बड़ी दुनियां दूसरी तरफ। पहली तरफ—बहु मंजिली इमारतें हैं—भोग की आधुनिकतम सामग्री, आवश्यकता से अधिक अन्न-चरम सीमा के उद्योग और तकनीकी, बड़े-बड़े नगर, शिक्षा व चिकित्सा की हर संभव सुविधाएँ हैं दूसरी तरफ छोटी झोंपड़ियां, या उनका भी अभाव, दो जून रोटी की भूख, तन ढंकने को दो गज कपड़े की तरस, परम्परागत हल-बैल की खेती, निरक्षरता और बीमारी है। विश्व की आधी मानवता जो गरीब देशों की है, की वार्षिक आय १०० डालर से भी कम है—दूसरी ओर एक चौथाई की न्यूनतम आय १००० डालर है। अमेरिका के औसत व्यक्ति की वार्षिक आय लगभग ५ हजार डालर है जबकि भारत के औसत व्यक्ति की लगभग ९० डालर। कई गरीब देशों के औसत व्यक्ति की आय ५० डालर या इससे भी कम है। अर्थात् मोटे रूप से भी देखा जाय तो अमीर और गरीब देश के औसत व्यक्ति की आय में सौ गुना या अधिक फासला है। सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि यह खाई दिनोंदिन बढ़ रही है। गरीब देश भी आर्थिक प्रगति (भले ही दबाव या ऋण ग्रस्त होकर) तो कर ही रहे हैं किन्तु अमीर देश-अपेक्षाकृत कई गुनी गति से आगे बढ़ जाते हैं। गरीब देशों की अनेकों समस्यायें है ही. किन्तु अमीर देशों का मानव भी दुःखी है। पहला रोटी न मिलने पर भूख से व्याकुल है दूसरा ज्यादा खा लेन पर कुपच से पीड़ित है, पहला कपड़े के अभाव में दुखी है दूसरे की दम घुट रही है कपड़े की अतिरेकता से।

पहला बेघरबार है, दूसरा बहुत बड़ी अट्टालिका में अकेलेपन से परेशान। दु:खी दोनों हैं। पहले हम अमीर या उन्नत या विकसित देशों की स्थिति पर दृष्टिपात करें।

सामान्यत: अमीर देशों का आम आदमी-हर प्रकार के इन्द्रिय-जनित भोगों में लिप्त है फिर भी इस दशाब्दी में भोगातिरेकता के कारण पैदा हुई ऊब अब-गोरे समाज में स्पष्ट दिखने लगी है। अमेरिका यूरोप, जर्मनी आदि में जहाँ-यांत्रिक अतिरेकता में मानव यन्त्रों का गुलाम हो गया है वहीं साम्यवादी चीन-रूस आदि में याँत्रिकीकरण की प्रक्रिया में मानव का ही यांत्रिकीकरण हो चला है। इन सारे देशों में मानव का मौलिक अस्तित्व ही खतरे में आ गया है। पुरानी पीढ़ी तो इन परिस्थितियों के साथ समझौता कर गई किन्तु नई पीढ़ी का अंतर्मन इस मानवीय अवमूल्यन और याँत्रिकीकरण की वेदना से भर उठा है। तथा वह सारी जीवन पद्धति से ही ऊबकर अपने हृदय की सूक्ष्म सम्वेदनाओं की अभिव्यक्ति तथा स्वाभाविक मानवीय अनुभूतियों की खोज में निकल पड़ा है। परिणामत: या तो वह कपड़े उतार कर बीटल बन रहा है या पलायनवादी होकर हिप्पी बन जाता है। अतिबुद्धिवादी तथा भाव व अनुभूतिरहित जीवन पद्धति में मानव का अनैतिक होना स्वाभाविक ही है। दुनियाँ में सबसे अधिक हत्या और बलात्कार अमेरिका में होते हैं। केलीफोर्निया की लवर्सलेन में अल्पव्यस्क लड़कियों के साथ बलात्कार करने पर 'चैसमेन' जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है। अमेरिका में हर घन्टे पर हत्या, हर मिनिट पर कार की चोरी, हर ४० सेकेण्ड में ५० डालर धन की चोरी की घटना होती है। मानसिक दबाव भी इतना अधिक है कि प्रत्येक ५ में से १ व्यक्ति गम्भीर मानसिक बीमारी से पीड़ित है और किसी भी क्षण पागल हो सकता है।

ब्रिटेन के भी हाल इसी तरह हैं। सैक्स अपराधों में क्रिस्टन कीलर या नीरालैंबी जैसे नाम तो कभी-कभी ही आते हैं, बहरहाल ऐसी घटनायें हुआ ही करती हैं जिनमें साधारण कर्मचारी से लेकर मन्त्री तक उलझे रहते हैं। टाइम्स ऑफ इन्डिया (जून ७३) के अनुसार इंगलैंड में १६ वर्ष से कम आयु की १० लड़कियाँ प्रतिदिन गर्भपात कराती हैं जिनमें अधिकांश की आयु लगभग ११ वर्ष होती है। स्वीडन एक पूंजीवादी देश है, यौन सम्बन्धों के मामले में यहाँ के लोग शायद जानवरों से भी गएबीते हैं। कल्पना से भी कलेजा दहल उठता है, नग्न स्त्री-पुरुषों के मेलों (Nude fairs) में लाखों लोगों की भीड़ के समाचार सुनकर।

मिलान के प्रमुख समाचार पत्र 'कोरियर' के अनुसार इटली में १८ से ४० वर्ष तक की युवतियों का ४०% वैश्यावृत्ति में संलग्न है। हिन्दुस्तान टाइम्स (जुलाई ७३) पश्चिमी जर्मनी में १० प्रतिशत लोग निगाह बचाकर दूसरों की चीज उड़ा ले जाने वाले लोग हैं।

एक उथली सी झलक है यह अमीरों की दुनिया की। कल्पना कीजिये-सैक्स और दौलत के भूखे इन प्रगतिशील देशों के लोगों के जीवन मे मानसिक सुख और शांति कहां है, वे बेचारे तो गांजा, भांग, अफीम, चरस में क्षणिक शांति खोज रहे हैं।

देशगत परिप्रेक्ष्य में एक और मजेदार बात यह है कि ये अमीर देश भी मुख्यत: दो अलग-२ विचार प्रणालियों के हैं। पहले पूंजीवादी या प्रजातन्त्रवादी तथा दूसरे साम्यवादी। साम्यवादी भी दो तरह के-लेनिनवादी और माओवादी।

चूंकि ये ही महा शक्तियां हैं। इनमें से प्रत्येक महाशक्ति शेष दुनियां के छोटे और गरीब देशों पर हावी होने को प्रयत्नशील रहती है। कम से कम अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने को हर एक प्रयत्न में लगी है। इसी खींचतान के कारण आधुनिकतम शस्त्रों के निर्माण और तकनीकी के विकास की प्रतिस्पर्धा सी लगी रहती है। फलत: भौतिकीकरण बढ़ रहा है और 'मानव' सिकुड़ रहा है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि अमीर देशों का मानव एक सर्वथा मानवीय अनुभूति सम्पन्न जीवन पद्धति की मांग कर रहा है । यह माँग अमेरिका, ब्रिटेन, जापान प० जर्मनी, फ्राँस, इटली आदि में तो प्रत्यक्ष है या परोक्ष में दिख ही रही है किन्तु रूस, चीन, पू० जर्मनी, आदि साम्यवादी देशों में-वैचारिक परतन्त्रता, तथा-बल पूर्वक तरीके से काम लेने की प्रणाली में मानवता का और भी अवमूल्यन हुआ है-भले ही उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति विश्व के सामने न आ पाई हो ।

अब गरीब देशों की २ अरब से भी अधिक जन संख्या के जीवन की ओर दृष्टिपात किया जाय । एक बड़ी प्रसिद्ध कहावत है 'हर बड़ी मछली छोटी मछली को निगलना चाहती है ।' मुझे नहीं मालूम पानी के अन्दर यह बात कहाँ तक सत्य है, किन्तु इतना अवश्य जानता हूं कि सारी दुनियां की बात की जाय तो बड़े राष्ट्र, छोटे-छोटे निर्बल राष्ट्रों को अपने-२ खेमे में लेने को प्रयास रत हैं साथ ही उनका भयंकर आर्थिक शोषण भी कर रहे हैं । अमेरिका में रहने वाली दुनियाँ की केवल ५./॰ आबादी-पूरी धरती के उपलब्ध साधनों का ५०./॰ खर्च करती है । यही अमेरीकियों के विश्व बन्धुत्व का नमूना है ?

कमजोर होना हजारों रोगों की जड़ है । प्रत्येक निर्बल राष्ट्र में अनेकों आंतरिक समस्याऐं हैं और महाशक्तियों के सर्वांगीण हस्तक्षेप के कारण बाह्य समस्याऐं हैं । पहले आंतरिक समस्याओं की बात की जाय । इन देशों के जन जीवन में बहुत बड़ी असमानता है । इनमें से अनेकों में भले ही प्रजातन्त्र का नाट्य हो किन्तु अर्थसत्ता, सामाजिक न्याय का केन्द्रीयकरण है, अथवा हो रहा है । समाज में कुछ लोगों की दैनिक आय कई हजार रुपयों तक है दूसरी ओर अनेकों की दैनिक आय १५-२० पैसे भी नहीं है । विज्ञान और तकनीकी के विकसित साधनों का उपभोग-शतांश आबादी भी नहीं कर पाती, बड़े किसानों के दिनरात खेतों में काम करने वाले मजदूरों को बारहों महीने-दो वक्त रोटी नहीं मिलपाती । आर्थिक शोषण का इतना वीभत्स रूप इन देशों में

है कि इंसानियत का बहुत बड़ा भाग तड़फ-तड़फ कर दम तोड़ रहा है । स्मरणीय रहे कि बात आर्थिक शोषण पर ही समाप्त नहीं हो जाती सामाजिक और धार्मिक शोषण भी इसी अनुपात में जानलेवा हैं । समाज अनेकों जातियों, उपजातियों, वर्गों और सम्प्रदायों में बटा है । चूंकि ये सब जन्मगत हैं इसलिये परम्परागत उच्च स्थान प्राप्त लोगों को विकास के साधन उपलब्ध हैं, और छोटे लोगों को अपने ही परिवृत्त में जीना-मरना है । सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति के पहिये रूढ़ियों, कुप्रथाओं परम्पराओं और कुसंस्कारों की दल-दल में धंसे हैं । उदाहरण के लिये विवाह संस्था की ही बात की जाए । इस्लाम संस्कृति से ग्रस्त देशों के लोग विवाह को एक शारीरिक सुख व संतानोत्पत्ति के साधन से अधिक कुछ भी नहीं मानते । दूसरी ओर हिन्दू समाज में दहेज, जाति बन्धन आदि कुप्रथाऐं, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में एक ही पत्नी के अनेकों पति या एक ही पति की अनेकों पत्नियों वाली कुप्रथाऐं समाज को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रही हैं । पुर्तगाल, भारत, पाकिस्तान, नेपाल, चिली, युगोस्लावाकिया. स्पेन, थाईलैन्ड, रोडेसिया, दक्षिण पश्चिम अफ्रीका, मिश्र, अरब, स्पेन, मोरक्को, आदि देशों में साम्प्रदायिक और सामाजिक ऊंच-नीच के कारण सदैव ही खींचतान चला करती है । अशिक्षा और अज्ञानता के कारण धार्मिक शोषण भी बड़ा विकराल है । हजारों देवी-देवता, पैगम्बर, अवतार, देवदूतों आदि के चक्करों में यहां का जनमानस घूमता है । इतना ही नहीं आए दिन इस प्रकार के अनेकों अवतार, ईश्वरीय संदेश वाहक, पहुंचे हुए फकीर या सिद्ध महात्मा उत्पन्न होते रहते हैं जनता को मूड़ने । लगभग सभी पिछड़ी तथा विकसित जातियों में स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य का झमेला किसी न किसी रूप में जीवित है ।

इन देशों में ७० से ९० प्रतिशत तक लोग निरक्षर हैं या तो अपनी मानसिक दासता के कारण अथवा सुविधाओं के अभाव में । यह तो निर्विवाद है कि शिक्षा से सभ्यता विकसित होती है-शिक्षा हीनता

के कारण करोड़ों लोग जंगली बर्बर और सर्वथा असभ्य हैं । पिछले सैकड़ों वर्षों से आज तक उनकी जीवनचर्या में कोई भी परिवर्तन नहीं आया । यहाँ सर्वाधिक विडम्बना है पढ़े लिखे लोगों की । चूंकि लगभग सभी नवोदित राष्ट्र या तो पाश्चात्य जगत के गुलाम रहे हैं अथवा उनमें किसी मौलिक और देशीय चिंतन की शुरूआत ही नहीं हो पाई है। दोनों ही स्थितियों में इनकी राजनैतिक चेतना विकसित गोरे समाज से प्राप्त चेतना है । संविधान निर्माता, नीतिनियामक और शासननियंता सभी मानसिक रूप से पाश्चात्य 'आधुनिकता' के गुलाम हैं । फलतः शिक्षा प्रणाली ही इतनी दूषित है कि शिक्षित पीढ़ी देशीय आवश्यकता में नियोजित होने के स्थान पर उच्छृंखल, अनैतिक, निराश या बेरोजगार हो गई है। इस प्रणाली का सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन से कोई तारतम्य ही नहीं । किसी तरह भी डिग्री प्राप्त कर लेना और रोजगार दफ्तरों के चक्कर लगाना विकासशील देशों की शिक्षा व्यवस्था की देन है । छात्र में जिज्ञासा-सृजनशीलता और स्फूर्ति का स्थान निराशा विध्वंशता और ऊब ने ले लिया है । विदेशों से उधार ली गई शिक्षा व्यवस्था से इन देशों की बुनियादी समस्याओं के समाधान के स्थान पर अनेकों नई समस्याऐं उत्पन्न हो गई हैं। शहरीकरण, बेरोजगारी, भृष्टाचार नौकरशाही, सामाजिक अपराध आदि इसी की उपज हैं । इस संदर्भ में यूनेस्को को दी गई 'पीयरसन कमीशन' की रिपोर्ट[1] दृष्टव्य है, जिसमें अल्पविकसित देशों की शिक्षा प्रणाली को स्पष्टतः देश की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनुपयोगी

1–'In too many instances children who finish primary school in rural areas seems rather less fit to become creative and constructive members of their own community than if they have never been to school. Education systems are not generally designed to produce such immediate skills or professions that corresponds to the needs of industry, agriculture or goverment in less developed countries.'

बताया गया है ।

इन दोनों का शिक्षित समुदाय अपने सामान्य जीवन में भी पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करने में लगा है। अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी वेषभूषा, आधुनिकता, प्रगतिशीलता और सभ्यता के माप दण्ड बन गये हैं। वेषभूषा की नकल हास्यास्पद सी ही लगती है, बैलबाटम की मोहरी या कमीज के कालर की चौड़ाई का अपना ही महत्व है। सब ओर फैशन का बोलबाला है। त्वचा के साथ लिपिस्टिक, पावडर और स्नो का मैच बड़ा ही अर्थपूर्ण है । विकासशील देशों में भारत सबसे बड़ा है, भारत में पिछले वर्ष १९७४ में ७८ करोड़ रुपये के स्नो, पावडर, क्रीम लिपिस्टिक, साबुन, इत्र, सुरमा, काजल आदि प्रसाधन सामग्री खर्च हुई । केवल टेल्कम पावडर ही १०४० लाख रुपयों का, और केवल अफगान स्नो ४ करोड़ रुपयो का, पिछले वर्ष सीता और सावित्री, दुर्गावती और लक्ष्मीबाई की सन्तानों ने अपने गालों से पोत लिया । जीयाजी, ग्वालियर डी. सी. एम. मफतलाल, बाम्बे डाइंग आदि की मिलें लाखों मीटर रासायनिक रेशो से निर्मित कपड़ा (Synthetic cloth) अनेकों रंगों, डिजायनों और मूल्यों में बनाती, बेचती हैं। यही आधुनिकता है । यदि स्नो-पावडर बनाने वाली राशि से दवाइयां निर्मित हों, टेरीन और फोम की जगह सूती लट्ठा बने तो शायद हर एक तो नहीं, मानव परिवार की बहुत सी माताओं को अपनी लाज बचाने भर के लिए दो मीटर कपड़ा मिल सकता है। बड़े-बड़े कारखानों में आज सहस्त्रों हाथ सौंदर्य प्रसाधन की सामग्री बनाने में लगे हैं, यदि यही श्रम इन देशों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में नियोजित हो सकता तो आर्थिक लाभ तो होता ही, महाविद्यालयों में शिक्षारत छात्र का ध्यान कक्षा में ब्लेक-बोर्ड से हटकर छात्राओं के स्कर्ट के चक्कर न लगाता और किसी छात्रा का ध्यान छात्रों की शर्ट के रंगों और केश सज्जा (हेयर स्टाइल) में न उलझता ।

यद्यपि इस फैशनपरस्ती का प्रमुख कारण विदेशों का अनुकरण तो है ही तथापि इन देशों में सामाजिक जीवन में लड़के व लड़कियों के बीच

मिलने-जुलने तक के लिए एक तथाकथित नैतिकता की रेखा है। मैंने नैतिकता के साथ तथाकथित का प्रयोग इसलिये किया कि सामाजिक सरचना ही ऐसी है, जिसमें लड़के-लड़कियों के कार्यक्षेत्रों में पर्याप्त समानता हो गई है, फिर यह असम्भव ही है कि वे आपस में मिलें-जुलें तक नहीं, और न हो बातचीत में विचारों का आदान प्रदान कर सकें। वास्तव में नैतिकता और चरित्र अनेकों मानवीय मूल्यों के एकीकृत शब्द हैं। किसी भी कार्य क्षेत्र में युवक-युवतियों का बातचीत करना ही यदि चरित्रहीनता मानलिया जाय तो यह चरित्र शब्द का ही अवमूल्यन हो गया। अविकसित देशों की सामाजिक व्यवस्था में युवक-युवतियों को अलग रखने की अमनोवैज्ञानिक पद्धति ही निरंतर, एक-दूसरे के प्रति आकर्षण को बढ़ावा दे रही है। सामाजिक भय और संकोच के कारण दबी हुई भावनाओंकीअभिव्यक्ति, सौंदर्य सामग्री और भड़कीले परिधानों द्वारा हो रही है।

राजनैतिक अस्थिरता, राजसत्ता की आर्थिक योजनाओं व नीतियों की असफलता तथा सवैधानिक नियमों की समाज में अव्यवहारिकता और शासकों व शासितों के बीच की दूरी की वृद्धि से गरीब देशों की आबादी के जीवन में अस्थायित्व व भविष्य के प्रति असुरक्षा की भावना की वृद्धि हुई है। इनमें सामाजिक व राजनैतिक प्रतिष्ठा तथा उन्नति का सीधा सम्बन्ध अर्थ सम्पन्नता से है। इनके परिणाम स्वरुप समग्र जीवन की दिशा ही गरीब होने के बावजूद भी 'अर्थ' की ओर अभिमुख हो गई है धन का मोह स्वार्थ भावना को विकसित करता है। स्वार्थी अमीर तो अधिक अमीर हो जाता है किन्तु स्वार्थी गरीब, गरीब ही होता चला जाता है। इन देशों में यही हो रहा है। भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, जमाखोरी मुनाफाखोरी भाई-भतीजा वाद, अफसरशाही आदि सभी स्वार्थवादिता के रोग के ही सहज लक्षण हैं।

इन देशों का ७०% से ८०% तक गाँवों का निवासी है किन्तु औद्योगीकरण व तकनीकी की मृगमरीचिका में बेतहासा भागना शुरु कर दिया है इन्होंने। क्या ही आश्चर्य जब ये अनाज अमेरिका, केनाडा, रूस

से कर्ज में लेकर खाते रहे। यहां इन देशों में अमीर देशो के हस्तक्षेप की चर्चा करना भी समीचीन होगा। अमेरिका व योरोप ईसाई मिशनरियों के माध्यम से गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा आदि का अनुचित लाभ उठाकर इन देशों की सांस्कृतिक चेतना की हत्या करने में संलग्न हैं। अमेरिका अपने खुफिया विभाग द्वारा हिंसात्मक रवैया अपना कर व विध्वंशक तत्वों को मदद देकर राजनैतिक अस्थिरता के लिए प्रयासरत रहता है। दूसरी ओर चीन आदि 'साम्यवाद' के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देकर, उपरोक्त दोनों लक्ष्यों की एक साथ पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये महाशक्तियाँ गरीब देशों को आपस में लड़वाती हैं और अपने घटिया दर्जे के हथियारों को बेचकर भारी रकम वसूल करती हैं। इनके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयव्यवस्था तथा ऋण व्यवस्था के माध्यम से गरीब देशों का शोषण करते हैं। १० बड़े देश मिलकर विश्व के सम्पूर्ण आर्थिक मामलों पर निर्णय ले लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व-बैंक में भी इन्हीं का बहुमत है। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था के अन्तर्गत पिछले २० वर्षों से मात्र ४ प्रतिशत गरीब देशों को मिल पाता है। अगर व्यापार की बात की जाय तो गरीब देशों का जितना माल विकसित देशों से खपता है उसका मात्र १०% ही उन्हें मिल पाता है। इसका प्रमुख कारण विनिमय की सारी प्रकिया पर विकसित देशों का नियंत्रण है। उदाहरण के लिए गरीब देशों को अपने २०० बिलियन डालर के माल (तेल को छोड़कर) का केवल ३० बिलियन डालर ही मिल पाता है। विकसित देशों को निर्यात कच्चा लोहा वहां से स्पात के यंत्रों में परिवर्तन होकर कई गुने दामों से गरीब देशों द्वारा पुनः खरीद लिया जाता है। यहां एक बात और बड़ी महत्वपूर्ण है। मान लीजिये किसी विकासशील देश ने विकसित देश को १ करोड डालर दामों में अपनी कोई वस्तु बेची, बदले में विकसित देश से १करोड़ डालर की ही दूसरी वस्तु खरीद ली। मोटे रुप से आदान-प्रदान बराबर रहा, किन्तु वास्तविकता कुछ और हैं। १ करोड़ डालर की अपनी वस्तु को बनाने में विकासशील देश के जहां १ करोड़ घन्टे खर्च होंगे, वहीं १ करोड़ डालर की अपनी वस्तु

को बनाने में विकसित देश को मात्र १हजार या १० हजार घन्टे ही खर्च होंगे। अब यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घाटे का सौदा नहीं तो और क्या है ?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गरीब देशों में विश्व की २ ५ अरब से अधिक जनसंख्या को सामाजिक न्याय, समानता, क्रियाशीलता-सम्पन्न एक स्वस्थ व स्वतन्त्र जीवन पद्धति की आवश्यकता है। वर्तमान व्यवस्थाएँ उनकी बुनियादी आवश्यकताओं और उन्नति के समान अवसर प्रदान करने में असमर्थ हैं।

चन्द्रमा पर पहुंच कर, मंगल पर अवतरण में प्रयत्नरत मानव जाति के सामने अब कुछ बड़ी समस्याएँ भी मुंह बाए खड़ी हैं। आज समस्त आर्थिक व औद्योगिक क्रियाशीलता का ढांचा ही तीन प्राकृतिक आधार शिलाओं पर रखा है। पहली ऊर्जा ईधन(तेल व कोयला), औद्योगिक कच्चा माल व पीने को शुद्ध पानी तथा वन्य पदार्थों के उत्पादन को पानी दे सकने की पृथ्वी की क्षमता, दूसरी रहने व कृषि करने के लिये भूमि का क्षेत्रफल और तीसरी, कार्बन-डाय-आक्साइड, नाइट्राइट, मरकरी; फास्फोरस आदि के अनेकों द्रव्यों [जो कारखानों, फैक्टरियों आदि के अवशेष पदार्थ (waste product) की तरह निकलते हैं] को वायुमण्डल की शोषित करने की क्षमता। औद्योगीकरण की तीव्र गति के कारण विश्व में प्रति व्यक्ति भू-गर्भीय सम्पत्ति के उपभोग की औसत मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही हैं जबकि जनसंख्या भी कहीं अधिक तीव्र गति से बढ़ रही है। चूंकि धरती के गर्भ में तेल, कोयला, धातुएँ व अन्य भू-सम्पत्ति सीमित मात्रा में ही है, जिसमें बड़ी तेजी से कमी हो रही है। अत: कहा जा सकता है कि मानव निर्धन हो रहा है क्योंकि औसत व्यक्ति के हिस्से में आने वाली धरती के गर्भ में छुपी सम्पत्ति में ह्रास हो रहा है। शहरीकरण की वृद्धि से वन्य क्षेत्रों में कमी आ रही हैं फलतः वन्य सम्पत्ति के औसत उत्पादन में भी कमी आ रही है। आज विश्व के वैज्ञानिकों को सबसे बड़ा संकट ऊर्जा संकट है। उन्हें चिंता है कि तेल और कोयले की खपत की रफ्तार यदि इसी दर से बढ़ती रही तो कुछ ही वर्षों में भाप और डीजल से चलने वाली

सारी रेलें, मोटरें, कारें मशीनें और मिलें कहीं बंद होकर न रह जाएँ। यद्यपि सौर ऊर्जा का उपयोग भी होने लगा है किन्तु वह खनिज ईधन की तुलना में आंशिक ही रहेगा। कल्पना भी बड़ी भयावह है, जिस मशीनीकरण की मृगमरीचिका में हम बेतहाशा भाग रहे हैं उन मशीनों को चलाने के लिए ईधन भी अप्राप्य हो जाएगा। इस स्थिति को प्रगति की संज्ञा कैसे दी जाय ?

दूसरी आधार शिला है रहने व कृषि करने के लिए भूमि का क्षेत्रफल। इसका सीधा सम्बन्ध जनसंख्या से है। जनसंख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति भूमि के क्षेत्रफल में कमी होती है। यदि विश्व की जनसंख्या वर्तमान दर(२.४६% प्रति वर्ष चक्रवृद्धि) से बढ़ती रही तो आज से ६५० वर्ष बाद प्रत्येक व्यक्ति को सिर्फ खड़े होने भर के लिए एक वर्ग फुट भूमि ही मिल पाएगी। आज विश्व की जनसख्या लगभग ४ अरब है और प्रति वर्ष लगभग पौने आठ करोड़ लोग बढ़ जाते हैं, हर दिन दो लाख से अधिक लोग बढ़ रहे हैं। विश्व के लगभग सभी देशों में जनसंख्या वृद्धि की समस्या है, मुख्यतः गरीब देशों में इसका सीधा सम्बन्ध भुखमरी, अशिक्षा व बेरोजगारी तथा गरीबी में वृद्धि से है। आज गरीब देशों में विश्व की ७४% जनसंख्या रहती है जबकि सन् २००० तक ८४% के लगभग हो जाएगी। जनसख्या वृद्धि के लिए प्रकृति को ही उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। स्त्री-पुरुष बच्चे पैदा करते हैं, प्रकृति नहीं। जीवन में अनुचित एवं सीमा से अधिक यौनाकर्षण, कम आयु में विवाह व अधिक आयु तक संतानोत्पत्ति एवं नारी को भोग्या मानने वाले अनेकों कुसंस्कार, कुल मिलाकर संपूर्ण सामाजिक ढांचा ही जनसंख्या में वृद्धि के लिए उत्तरदायी है।

तीसरी आधार शिला है- अवशेष पदार्थों (waste products) को वायु-मण्डल की शोषित करने की क्षमता। कारखानों से निकले ठोस या तरल पदार्थों को जल स्त्रोतों में बहा दिया जाता है एवं धुऐं व गैसीय पदार्थों को हवा में छोड़ दिया जाता है। परिणामतः इनसे पानी गदा हो रहा है और वायुमण्डल भी। वायु प्रदूषण आज के औद्योगिक व महानगरों

में रहने वाले लोगों के लिऐ एक बहुत बड़ी समस्या है। विषैले पदार्थों से सारा शहरी वायु मण्डल दूषित हो रहा है। महानगरों की अनेकों शारीरिक व मानसिक बीमारियों का कारण विषैला वायुमण्डल है। आज संपूर्ण विश्व का वायु मण्डल ही दूषित होता जा रहा है। अमीर देशों के महानगरों के मानव का तो दम ही घुटा जा रहा है, भले ही वह इसका अभ्यस्त हो चुका हो, किन्तु फेंफड़ों और मस्तिष्क के अनेकों रोगों से वह इस वायु प्रदूषण से बचने के उपाय खोजता रहता है। यदि सम्पूर्ण विश्व का औद्योगीकरण कर दिया जाय तो लगभग सभी क्षयरोग, त्वचा के रोग अथवा पागलपन के शिकार हो जाऐंगे।

औद्योगिक एव आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त बहुतेरी सामाजिक व राजनैतिक समस्याऐं भी मानवता के सामने है। सामाजिक समस्याओं में सबसे बड़ी हैं नर-नारी असमानता की। अमीर और गरीब सभी देशों में यह समस्या न्यूनाधिक रूप से है। विश्व की सभी संस्कृतियों में(हिन्दू संस्कृति के अतिरिक्त) नारी को पुरुष से नीचा स्थान मिला है। भोगवादी संस्कृतियों के विकास के साथ-साथ नारी को भोग की वस्तु मानने वाले कुसंस्कारों को भी बल मिला है। दूसरी ओर अविकसित या असभ्य जनजातियों में भी नारी को शारीरिक तृप्ति व संतानोत्पत्ति का साधन ही माना जाता है। विश्व की सम्पूर्ण नारी जाति वर्तमान की पुरुष सामन्ती व्यवस्था में अनेकों अत्याचार, अन्याय और शोषण सह रही है। इस दृष्टि से मानव जाति की सम्पूर्ण सामाजिक संरचना ही दोषपूर्ण हैं।

राजनैतिक समस्याओं में सबसे विकराल है, महाशक्तियों के शक्ति संतुलन तथा प्रभाव क्षेत्रों से सम्बन्धित। दूसरी है गरीब-अमीर देशों के बीच लगातार बढ़ रही खाई की। विकासशील देशों का जीवन स्तर (औसत) लगातार गिर रहा है जबकि वे ही लगभग पूरी भूगर्भीय सम्पत्ति के स्वामी हैं। कुछ दो तीन वर्षों से इन देशों की अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्र चेतना में बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। उन्होने अपने बुनियादी अधिकारों की मांग शुरु कर दी है। संयुक्त राष्ट्र संघ में इनकी संख्या

पिछली दशाब्दी में ७७ से बढ़कर १०६ हो गई है जो दो तिहाई बहुमत से अधिक होने के कारण विकसित देशों को चिंता का विषय बन गया है। सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी है।

युद्धों का भय व अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण लगातार बढ़ रहा है। शस्त्र निर्माण व प्रतिरक्षा पर विश्व का १८२ अरब डालर खर्च होता है। अकेले शस्त्रों के निर्माण व शोध पर दुनिया २५ अरब डालर खर्च करती है जबकि चिकित्सा सम्बन्धी खर्च केवल ४ अरब डालर वार्षिक है। कैसी विडम्बना है? हम जिन्दगी छीनने की कोशिश में जिन्दगी बचाने की कोशिश से चौगुना धन खर्च करते हैं! कैसे कहा जाय कि मानवता का विकास हो रहा है?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज विश्व में जिसे विकास की संज्ञा दी जा रही है वह वास्तविक विकास अथवा गुणात्मक विकास है ही नहीं, अपितु आभासी विकास या संख्यात्मक व मात्रात्मक विकास है, जो बहुत बाहरी है। और उसकी अतिरेकता में आज जितनी तीव्र गति से मानवीय व नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है-विनाश के मार्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह भी स्पष्ट हो गया है कि आज सम्पूर्ण मानवता-अत्यंत गम्भीर रोगों से ग्रस्त हो गई है जिसके लक्षण आंशिक रूप से ऊपर दर्शाए गए हैं। संक्षेप में इन रोगों के निम्न कारण हैं—

१. मानव जाति का समग्र जीवनतन्त्र ही अर्थ परक हो गया है।
२. अर्थ (संपत्ति और साधनों) के अनुचित (जन्मगत) वितरण से अधिकार-वैषम्य हो गया है।
३. देश, वाद और तन्त्र की कट्टरता व असमानता से भयंकर अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय हो रहा है।
४. (अ) विकसित देशों की प्रोद्योगिक (Post industrial) व्यवस्था में मानवीय व नैतिक मूल्यों का पूर्ण अभाव हो चला है।
(ब) गरीब देशों में अशिक्षा (ज्ञान का अभाव), मानसिक गुलामी

और स्वार्थवादिता युक्त व्यवस्था में भी यही परिणाम निकला है ।

मानवता के इन रोगों का स्थाई उपचार इन कारणों के नष्ट करने से ही सम्भव होगा । यह कार्य 'सुधारवाद' के नाटक से नहीं एक महान वैचारिक क्रांति[1] द्वारा ही सम्भव है जिसके आयाम निम्न होंगे—

१. अर्थ का सामाजिक अवमूल्यन (Social devaluation of money).

२. अर्थ का योग्यतानुसार (गुण, कर्म स्वभावानुसार) वितरण तथा अधिकारों का समुचित वर्गीकरण।

३. तर्क, बुद्धि और विज्ञान पर आधारित एक सार्वभौमिक जीवन दर्शन (Univarsal Philosophy of life) को सम्पूर्ण भूमण्डल पर लागू करना ।

४ चेतना (ईश्वर) वादी दृष्टिकोण से व्यक्ति का अन्तर्विकास तथा समष्टिगत चेतना का विकास ।

उपरोक्त चार बिन्दुओं में पहले तीन, बाह्य व्यवस्था (क्रमशः आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक) से सम्बन्धित हैं और चौथा-व्यक्ति के अतर्जगत् है । यदि केवल चौथा उपाय पूरा कर लिया जाय तो पहले तीन स्वतः ही पूरे हो सकते हैं, किन्तु चौथा उपाय (सामूहिक अतर्विकास) तभी पूरा हो सकता है जब पहले तीन पूरे किये जावें । ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि मानवीय इतिहास का प्रगतिकाल तभी होता है जब सम्पूर्ण ढांचे को भीतर से बाहर की ओर गतिज ऊर्जा मिलती हैं जो विचारों (सकल्पों) में नैतिक व मानवीय मूल्यों के समावेश पर आधारित है । चौथे बिन्दु की सफलता भी इसी तथ्य पर निर्भर है । यहाँ स्मरणीय है कि आज 'मानव' की अवनति हो रही है और समूह मन का निर्माण बाहरी परिस्थितियों से ही हो रहा है । ऐसी स्थिति में मानवीय नैतिक मूल्यों के सामूहिक विचारों में समावेश के लिये बाहरी व्यवस्था को ऊपर दर्शाए पहले तीन बिन्दुओं के

---

१. पूरी पुस्तिका में क्रांति का तात्पर्य स्पष्टतः वैचारिक क्रांति होगा । विध्वंश, हिंसा आदि कृत्यों का अर्थ क्रांति कदापि नहीं हो सकता ।

अनुरूप ढालना पड़ेगा । यदि यह कार्य विश्व की किसी छोटी इकाई (क्षेत्र) में ही पूर्ण हो जाय तो वहां से उत्पत्तित धनात्मक व सशक्त संकल्प, सम्पूर्ण ढांचे को गतिज ऊर्जा देना प्रारम्भ कर देंगे तथा इस गतिज ऊर्जा की मात्रा पूर्व की ह्रास हो रही स्थितिज ऊर्जा से कहीं अधिक होगी । चौथा बिन्दु (अंतर्मुखी व समष्टिगत चेतना का विकास) पूरा हो जाएगा और जिससे विश्व में पहले तीन उपाय स्वमेव पूरे हो जायेंगे, तथा मानवीय व्यवस्था को प्रगति की दिशा मिल सकेगी ।

अब यहाँ सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न चिन्ह है—यह कार्य करेगा कौन ? विश्व की वर्तमान व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने का बीड़ा कौन उठाएगा ?

'आर्य समाज क्या है'

ऊपर के प्रश्न का एक मात्र उत्तर है—'आर्यसमाज' । दुर्भाग्य से आज आर्य समाज का कार्य, संध्या, हवन आदि कर लेनें, मूर्ति पूजा और मृतक श्राद्ध न करने, जातिपाँति न मानने, सबके साथ खा लेने और धार्मिक व्याख्यान देने तक ही सीमित हो गया है या होता जा रहा है । यद्यपि ये व्यक्ति परक जीवन में आवश्यक हैं किन्तु ये सब आर्य के बाहरी चिन्ह हैं और अपेक्षा कृत सरल भी । प्रेम, दया, सेवा, निष्ठा, ईमानदारी जैसे मानवीय मूल्यों का अभाव सा हो चला है, किन्तु इसी को आर्य समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती । वस्तुतः आर्य समाज क्या है, इसे जाना जाय ।

आर्य समाज की विचारधारा और वैचारिक क्रांति पर्यायवाची शब्द हैं । आर्य समाज का उद्देश्य वैचारिक क्रांति है । सम्भव है इसे क्रांति कहना उन सभी को अटपटा या अनुचित लगे जो आर्य समाज के संदर्भ में कुछ न कुछ मान बैठे हैं । दुर्भाग्य से इसे एक सुधारवादियों की संस्था या सुधारवादी आन्दोलन की ही संज्ञा दी जाती है । पहले क्रांति की प्रक्रिया समझली जाए । किसी भी समाज या जाति की व्यवस्थात्मक संघर्ष क्रिया का अध्ययन किया जाय तो सामान्यतया तीन कार्य शक्तियां

क्रियाशील दिखती हैं। पहली यथास्थितिवादी (confermetary) दूसरी प्रतिक्रियावादी (Reactionary) व तीसरी सुधारवादी (Recons tructionary)। साधारणत: कोई भी समाज एक नियत व्यवस्था में परम्परागत ढंग से चलने का आदी हो जाता है, क्योंकि पहली कार्यशक्ति उसे पूर्ववत् रखना चाहती है। इससे विपरीत है प्रतिक्रियावादी जो आज को कल से ठीक उल्टा बनाने का प्रयत्न करती है। तीसरी इन दोनों के बीच की शक्ति है सुधारवादी। व्यवस्था के अन्दर ही बुराइयों को सुधारने में सलग्न रहती है यह कार्यशक्ति। यह सब एक निश्चित से अनुपात में चला करता है, किन्तु जब सुधार के प्रयत्न आवश्यकता से अधिक हो जाएँ तब क्रांति जन्म लेती है। क्रांति की प्रक्रिया के चार बुनियादी आयाम होते हैं। पहला--तात्कालीन व्यवस्था की आवश्यकता एव उपयोगिता को पूर्णत: अस्वीकार कर देने की चेतना जाग्रत करना, दूसरा--अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी व वैज्ञानिक विकल्प खोज लेना, तीसरा--तात्कालीन व्यवस्था को समूल नष्ट कर देना एवं चौथा--नवीन विकल्प का व्यवहारिक प्रतिस्थापन करना।

इनमें सबसे पहला क्रांति की मानसिक पृष्ठ भूमि तैयार करने से सम्बन्धित है। दुनियां के इतिहास में जितनी भी क्रांतियों हुई--पहले नकारात्मक चेतना ही तैयार हुई बाद में किसी संस्था का निर्माण। ऐतिहासिक आधार भित्ति पर आर्य समाज के साथ भी यही हुआ। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने तात्कालीन व्यवस्था को कुकर्म की संज्ञा दी है।

'..........आपस की फूट, मतभेद, बृह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।' यह बात सामयिक ही नहीं थी क्योंकि जब भी कोई व्यवस्था असत्य पर आधारित है उसे सर्वांगीण रूप से अस्वीकार कर देने की जितनी सीधी और स्पष्ट घोषणा आर्य समाज करता है, कभी कहीं, किसी ने नहीं की।

'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्दत रहना चाहिये' (चौथा नियम)। वर्तमान की सम्पूर्ण मानवीय व्यवस्था असत्य पर आधारित है। अत: इसके लिए नकारात्मक चेतना जागृत करने का कार्य आर्य समाज के नियमों के अंतर्गत ही आता है।

क्रांति का दूसरा आयाम है--नवीन विकल्प खोजने या तैयार करने से सम्बन्धित। वर्तमान संदर्भों की आवश्यक वैकल्पिक व्यवस्था के चार सूत्र ऊपर दर्शाए गए हैं। आर्य समाज की विचारधारा में ये चारों ही समाहित हैं। आर्य समाज वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की सुन्दर और सुनियोजित रूपरेखा देता है। मानव जीवन गुण कर्म स्वभाव के आधार पर चार वर्णों में विभक्त है। पहला ब्राह्मण (शिक्षक), दूसरा क्षत्रिय (रक्षक) तीसरा वैश्य (पोषक) और चौथा शूद्र (सेवक)।

ब्राह्मण का कार्य सब प्रकार का मानव समाज के लिए हितकारी ज्ञान प्राप्त करना एवं अविद्या का नाश करना है। स्वाभाविक है, यह वर्ग बुद्धिजीवियों का है, अत: इन्हें जीवनयापन की बुनियादी जरूरतों की चिताओं से मुक्त रह कर अविद्या के विरुद्ध संघर्षरत रहना चाहिए। वर्ण व्यवस्था में उन्हें यह सुविधा प्रदान की गई है। उनका अर्थोपार्जन से कोई सम्बन्ध नहीं। चूंकि यह समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग (मस्तिष्क) है, अत: इसकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का उत्तरदायित्व समाज या राज्य का होगा। क्षत्रिय का कार्य काम-क्रोध-लोभादि मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण समाज में होने वाले अन्याय को बल पूर्वक दूर करना तथा राज्य व्यवस्था द्वारा सद्व्यवहार स्थापित करना है। समाज के रक्षक लोगों का यह वर्ग एकाग्र होकर अपना कार्य कर सके इसलिए उसे भी अपनी बुनियादी जरूरतों की चिंता से मुक्त रखा गया है। अर्थोपार्जन से इस वर्ण का भी कोई सम्बन्ध नहीं। अब है तीसरा वर्ण-वैश्य। वैश्य का कार्य प्राकृतिक पदार्थों को शारीरिक श्रम तथा बुद्धि कौशल द्वारा मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी बना कर मानव समाज की दरिद्रता दूर करना है। अन्य वर्णों के जीवन यापन की बुनियादी

जरूरतों को (कृषि एवं व्यापार के द्वारा) पूरा करने का उत्तरदायित्व वैश्य का होगा। चौथा वर्ण है शूद्र-जो उपरोक्त तीनों कार्यों को करने में अक्षम हो, वह इन वर्णों की सेवा व सुश्रुषा का कार्य करेगा। शूद्र को भी अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की चिंता से मुक्त रह कर समाज सेवा करने का अवसर मिलेगा तथा उसके भरणपोषण का उत्तरदायित्व समाज या राज्य का होगा।

इससे स्पष्ट है कि समाज का केवल एक वर्ग ही अर्थ (money) से सम्बन्धित है। यहाँ एक बात और स्पष्ट है कि ये वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, किन्तु योग्यता (गुण, कर्म, स्वभाव) के आधार पर प्रारम्भ में बालक व उसके आचार्यगण निर्धारित करेंगे।

आयु के आधार पर मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास। इनमें से प्रत्येक की अवधि २५ वर्ष निर्धारित है। जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्ष में ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करता हैं। शिक्षा भी दो प्रकार की है। पहली शिक्षा का उद्देश्य है बालक को भिन्न वर्णों के कार्यों का ज्ञान देना जिससे वह दीक्षा (अज्ञान, अन्याय या अभाव में से किसी एक को दूर करने के दृढ़ संकल्प का उद्घोष) ले सके। दीक्षा के बाद वर्ण निश्चित हो जाता है किन्तु इसका वास्तविक निर्णय आचार्य ही करता है। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में हो' (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास)। इस आश्रम में सभी शिक्षार्थियों को भोजन, वस्त्र आदि के तुल्य अधिकार प्राप्त होंगे, तथा 'सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाएँ। चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे वह दरिद्र की सन्तान हो।' (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास)। दूसरा आश्रम है गृहस्थ। पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के वहन के लिए यह आश्रम है। २५ वर्षीय शिक्षा प्राप्त भिन्न वर्णों के युवकों को उनकी योग्यतानुसार अधिकार धर्मार्य, विद्यार्य व राजार्य सभा द्वारा निश्चित किये जाऐंगे। तीसरा आश्रम है, वानप्रस्थ। इस आश्रम में व्यक्ति पारिवारिक बन्धनों से मुक्त होकर अपने अनुभव

और ज्ञान का लाभ विद्यार्थियों को पहुंचाता है। साथ ही अविद्या के नाश के लिए यह ब्राह्मणों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्षरत रहता है। चौथा सन्यास आश्रम है। आयु के ७५ वर्ष से १०० वर्ष पर्यन्त। सम्मान और महत्व की दृष्टि से यह आश्रम सर्वोपरि है। समाज का प्रत्येक अंग सन्यासी के सामने नतमस्तक होता है। इसमें व्यक्ति मानव समुदाय की सब छोटी इकाइयों से मुक्त होकर मानव मात्र के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अग्रसर हो जाता है। अग्नि की तरह वह समाज को अपने आत्मज्ञान से प्रकाशित करता है।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की यह संक्षिप्त रुप रेखा है। इससे कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं।

अ-अर्थोपार्जन का कार्य समाज के चार में से केवल एक अंग ही करेगा। वह भी उसकी आयु के मात्र चौथाई भाग में।

ब-व्यक्ति के कार्य का निर्धारण उसकी रुचि और योग्यता के आधार पर आचार्यगण करेंगे। आवश्यक नहीं कि वैश्य का पुत्र उसके पिता द्वारा कमाई गई सम्पत्ति का स्वामी बने।

स-कार्यक्षेत्र में व्यक्ति के अधिकारों का निश्चय, राज्य व्यवस्था के अंग उसकी क्षमता व योग्यता के स्तर के आधार पर करेंगे। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को ५ एकड़ भूमि कृषि के लिए दी जा सकती है, और किसी को १५ एकड़ भी। वह ब्राह्मण का जन्मगत पुत्र भी हो सकता है अथवा शूद्र का भी।

द-सब मनुष्य सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहेंगे और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतन्त्र। (आर्य समाज का दशवाँ नियम)

स्पष्ट है कि प्रारम्भ में दर्शाई गई वर्तमान की वैकल्पिक व्यवस्था के प्रथम दो सूत्र सर्वांशतः आर्य समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा पूरे हो सकते हैं। इस पद्धति से अर्थ का सामाजिक अवमूल्यन भी हो जायगा और योग्यता व क्षमता के आधार पर अर्थ तथा अधिकारों का समुचित वर्गीकरण भी।

तीसरा सूत्र है–विश्व में एक सार्वभौमिक जीवन दर्शन लागू करना। अर्थात देश, काल, परिस्थिति से निरपेक्ष शास्वत सत्य पर आधारित विचार धारा का प्रतिस्थापन करना। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने वैदिक दर्शन को शास्वत सत्य के रुप में स्वीकारा है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है' (तीसरा नियम)। उन्होने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है 'मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हूँ जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। जो सत्य है उसका मानना– मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।' वैदिक दर्शन के आधार पर आर्य समाज सृष्टि को तीन अनादि (पदार्थों) का संघात मानता है। पहला 'ईश्वर– सच्चिदानन्द स्वरुप, निराकार सर्वशक्तिमान न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिरयामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि करता है उसी की उपासना करनी योग्य है' (दूसरा नियम) तथा 'सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है (पहला नियम)। ईश्वर जीव के लिए प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है अतः वह मुख्य निमित्त कारण है।

दूसरा है जीव-यह निराकार, स्वभावतः सत् व चेतन तथा प्रकृत्ति का भोक्ता है। यह कर्म करने को स्वतंत्र किन्तु फल भोगने के लिए ईश्वराधीन है, अतः इसे 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये' (पांचवां नियम)। जीव ही सृष्टि का साधारण निमित्त कारण है।

तीसरा है प्रकृति –सत् रज, और तम अर्थात् शुद्ध, मध्य व जाड्य (जड़ता) तीन गुणों के संघात का नाम प्रकृति है। यही सृष्टि का उपादान कारण है–इसके ही भिन्न रूपों में परिवर्तन करके निमित्त कारण सृष्टि का निर्माण करते हैं। यह संसार को बनाने की सामग्री है, और जड़ होने के कारण इसमें कोई भी परिवर्तन स्वतः नहीं होता। यह कार्य नियम

पूर्वक चेतन सत्ता (ईश्वर या जीव) द्वारा होता है। वैदिक दर्शन इन तीन को ही नित्य तथा जगत् के स्वरूप को अनित्य मानता है। यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक है।

मानव जीवन के उद्देश्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की वैदिक व्याख्या बड़ी ही सटीक एव सर्वांगीन है। यद्यपि महाभारतोत्तर भारतीय चिंतकों तथा पाश्चात्य चिंतकों ने जीवन के उद्देश्यों को जानने का यत्न किया, किन्तु वे परिस्थिति सापेक्ष होने के कारण एकांगी व प्रतिक्रियात्मक ही रहे। भारतीय चिंतन धर्म व मोक्ष प्रधान रहा और पाचात्य चिंतन साधारणतः अर्थ और काम प्रधान। धार्मिक कुरीतियों और कर्मकाण्ड की अतिरेकता ने जहां मोक्ष के एकांगी पक्षकार महावीर या मोक्ष को जन्म दिया वहीं इनकी ही नास्तिकता की प्रतिक्रिया से शंकर उत्पन्न हुए। दूसरी ओर पश्चिमी दर्शन के तीन मूल अवयव हैं विचार, अनुपालन और आस्था। यूनान का 'समीक्षात्मक दृष्टिकोण तथा पर्यवेक्षण पद्धतियों से विचार, रोम के धर्म निरपेक्ष कानून तथा व्यवस्था सम्बन्धी नियमों से अनुपालन और फिलस्तीन के एकेश्वरवाद, ईश्वरीय आदेश तथा नैतिकता से आस्था मिश्रित होकर पश्चिमी दर्शन का सृजन हुआ। इन्हीं के आनुपातिक असंतुलन अथवा अतिरेकता की प्रतिक्रिया ने फ्रायड जैसे कामवादी चिंतक को उत्पन्न किया। इनके असंतुलन से उत्पत्तित साम्राज्यवाद, एकाधिकारवाद, पूंजीवाद आदि की प्रतिक्रिया से 'अर्थ' वादी चिंतक मार्क्स उत्पन्न हुए। प्रतिक्रिया सदैव क्रिया सापेक्ष होती है। और किसी भी युग की क्रिया परिस्थिति विशेष के साथ बदलती है। अतः वर्तमान में ये सारी एकांगी प्रतिक्रियाऐं निराधार व निरर्थक हैं। दूसरी ओर महर्षि दयानन्द का समग्र चिंतन देखिए 'जिससे सब लोग सहज से धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त करके सदा उन्नत और आनंदित होते रहें, यही मेरा मुख्यप्रयोजन है।'

स्पष्ट है आर्य समाज की विचारधारा ही एक सार्वभौमिक जीवन दर्शन सिद्ध हो सकती हैं जो वैकल्पिक व्यवस्था का तीसरा सूत्र है।

चौथा सूत्र है– ईश्वरवादी दृष्टिकोण से व्यक्ति का अंर्तविकास तथा समष्टिवादी चेतना का विकास। यही मानवता की वास्तविक प्रगति का बुनियादी उपाय है। पिछले पृष्ठों में विचारों की शुद्धता (धनात्मकता) को प्रगति का मुख्य कारण और ऋणात्मकता को अवनति का कारण दर्शाया गया था। यह धनात्मकता शाश्वत नैतिक तथा मानवीय मूल्यों पर निर्भर करती है साथ ही व्यक्ति का अंतर्विकास भी इन्हीं पर निर्भर हैं।

विचारों की शुद्धता और आर्य समाज––

वेद में विचारों को शिक्षित अथवा शुद्ध करने का उपाय यज्ञ बताया गया है। अथर्ववेद में लिखा है—'शत्रु नाशक और बलवान संकल्प को मैं, यज्ञ से शिक्षित करता हूं।[1] व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले श्रेष्ठतम कर्मों को वेद यज्ञ की संज्ञा देता है। यज्ञ पाँच प्रकार के होते हैं—ब्रह्म यज्ञ (सध्या), देवयज्ञ (अग्निहोत्र व सत्संग), पितृयज्ञ (माता–पिता व पूज्यों की सेवा करना), बलिवैश्वदेव यज्ञ (भोजन का एक अंश रोगी, चाण्डाल, पशु अथवा पक्षी आदि को देना) तथा अतिथि यज्ञ (सुपात्र अतिथि का सत्कार करना)।

ब्रह्म यज्ञ में प्रातः और सायंकाल ईश्वर के गुणों का ध्यान किया जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य जिस सद्गुण या दुर्गुण का ध्यान नियमित या निरंतर करता रहे, उसी के अनुरूप उसके सम्पूर्ण विचार बन जाते हैं। अतः यदि ईश्वर जो सभी सद्गुणों का भण्डार है, का ध्यान किया जावे तो उसी के अनुरूप विचार निर्मित हो जाते हैं।

दूसरे अग्निहोत्र से वायु शुद्धि आदि भौतिक लाभ तो हैं ही किन्तु यह एक आध्यात्मिक कृत्य है, जिसका मुख्य प्रयोजन सब प्रकार की बुराइयों वासनाओं आदि को जलाकर सत् प्रवृत्तियों का ग्रहण है। सत्संग भी नैतिक व मानवीय मूल्यों के विचारों में समावेश अर्थात आत्मविकास में सहायक होता है।अग्निहोत्र का कृत्य व्यक्ति की समष्टिगत चेतना के विकाश में भी सहायक है, यदि उसका वास्तविक अर्थ (मन्त्रों का भी) समझा जाय व

१. सपत्न हवं न मृषभ कामं हविषा शिक्षामि ॥ (अथर्व० ९/२/१)

मनन किया जाय। शेष तीनों यज्ञ व्यक्ति की समष्टिगत चेतना को स्थाई रूप देने के व्यावहारिक प्रशिक्षण हैं। नवां नियम है– प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

आर्य समाज व्यक्ति के जीवन में इन पाँच यज्ञों के अतिरिक्त सोलह संस्कारों की आवश्यकता भी प्रतिपादित करता है। इन संस्कारों का प्रयोजन भी जीवन को भिन्न परिस्थितियों में व कालों में एक स्थाई विचार श्रृंखला से सम्बध करना है, जिससे उसका अंर्तविकास हो सके।

अतः यह स्पष्ट है कि आर्य समाज ही वैकल्पिक व्यवस्था के चारों सूत्रों की सर्वांगीण पुष्टि करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आर्य समाज के पास ही वह वैकल्पिक व्यवस्था है, जिसकी आज मानव जाति को एकमेव आवश्यकता है। उपरोक्त विवेचन से यह भी सिद्ध हो गया कि आर्य समाज क्रांति के पहले दोनों आयाम (नकारात्मक चेतना की जाग्रति व वैकल्पिक व्यवस्था की खोज) पूरे करने में सक्षम। इस दिशा में उसने प्रयास भी किया है।

वैचारिक क्रांति का तीसरा आयाम है– तात्कालीन वैचारिक व्यवस्था को समूल नष्ट कर देना और चौथा है वैकल्पिक व्यवस्था का व्यवहारिक प्रतिस्थापन। वस्तुतः तीसरा कदम बहुत जोखिम भरा और खतरनाक है। आर्य समाज का सौ वर्षों में सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा कि इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। यद्यपि महर्षि ने आर्य समाज के नियमों में इन दोनों आयामों का भी दिशा बोध कराया है, 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है (छठा नियम)। यहाँ उपकार शब्द ध्यान देने योग्य है। उपकार किसी व्यक्ति का नहीं, समाज का नहीं और देश का भी नहीं, सारी दुनियां का। आज सारी मानवता खण्ड-खण्ड में बटी हुई है। भाषा, जाति, देश, वर्ण, रंग, यौन आदि की दीवारों ने एक ही माँ की सन्तानों के बीच में जमीन आसमान के फासले पैदा कर दिये हैं। परिणामतः अनेकों मान्यताओं, मर्यादाओं और आवश्यकताओं की पृष्ठ भूमि पर उपकार

की परिभाषाएँ भी स्थिति सापेक्ष हो गई हैं ! एक ही प्रकार का कार्य एक बड़े मानव समुदाय के लिए बहुत बड़ा उपकार, किन्तु दूसरे समुदाय के लिए उतना ही बड़ा अनुपकार साबित होता है ऐसी स्थिति में निश्चय ही उपकार की एक निरपेक्ष और सार्वभौम परिभाषा का जन्म देना होगा। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब मानव की सम्पूर्ण कृतिम विषमताएँ नष्ट कर दी जाएँ, किन्तु यह विषमताएँ वर्तमान मानवीय व्यवस्था के कारण हैं, अतः इन्हें नष्ट करने के लिए इस असमानता परक व्यवस्था को ही नस्ट करना पड़ेगा। छठे नियम का दूसरा भाग है 'अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना'। आज जबकि विश्व की ७०% आबादी के लिए उन्नति के समान अवसर प्राप्त नहीं है, उन्नति कैसे होगी ? एक ही उत्तर है, वर्णाश्रम की वैकल्पिक व्यवस्था को लागू करने से। बस इस एक ही नियम में क्रांति के अन्तिम दोनों आयामों पर बल दिया गया है।

उपरोक्त व्याख्या से यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आज विश्व को जिस वैचारिक क्रांति की जरुरत है, आर्य समाज द्वारा उसके चारों आयाम पूरे किये जा सकते हैं।

यह तो कोरी किताबी बात हुई। लेख लिखने या भाषण बाजी करने के काम में अवश्य आ सकती है, किन्तु जब इसे व्यवहारिकता से जोड़ा जाएगा तब सबसे पहले आर्य समाज के वर्तमान को सर्वथा नंगी आखों से देखना जरुरी होगा। नंगी आखों से साफ मतलब है रूढ़ी-ग्रस्त और असामयिक पूर्वाग्रहों के सारे चश्मों को उतार, आत्म निरीक्षण करना जो एक शताब्दी पुराने हैं। जो संस्था संदर्भों के बदलाव के साथ समय-समय पर आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन और अपनी कार्य पद्धतियों में आवश्यक परिवर्तन करने में असमर्थ है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। पिछले २५ सालों का आर्य समाज का इतिहास मौत से पहले ही लकड़ियां चुनकर चिता बनाने के कार्यक्रम के अलावा कुछ और है, कहना कठिन होगा।

'है' और 'चाहिए' में एक लम्बा फासला अवश्य है, किन्तु 'है' को जाने बगैर 'चाहिए' के प्रयत्न सर्वथा निराधार हैं। 'है' यथार्थ है और 'चाहिए' आदर्श। 'है' वर्तमान है और 'चाहिये' भविष्य की रूप रेखा। आज अन्य सभी 'सांस्कृतिक' या 'आध्यात्मिक' संगठनों की तरह आर्य समाज भी 'चाहिए' की बात तो करता है, किन्तु 'है' को अलग रखकर। जैसे हमें नियमित यज्ञ करना 'चाहिए', बड़ों (पूज्यों) का सम्मान करना 'चाहिए' अज्ञान अभाव, व अन्याय से लड़ना 'चाहिए' इस तरह के अनेको 'चाहिए' की रट लगाई जाती हैं, किन्तु यह भुला कर कि आज उसका अपना यथार्थ क्या 'है' ? वह ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, पदलोलुपता आदि अनेकों व्याधियों से ग्रस्त 'है,' कितना खोखला है आर्य समाज का यह 'है'। 'चाहिए' (भविष्य) का निर्माण 'था' (भूत) से नहीं, 'है' [वर्तमान] की आधार भित्ति पर होता है। इसलिए आर्य समाज के परिप्रेक्ष्य में ही 'है' और 'चाहिए' की बात की जाय अर्थात् इसमें उत्पन्न कुछ बुनियादी विकारों और उन्हें नष्ट करने पर प्रकाश डाला जाय। आर्य समाज को आज जिंदा रखने की यह पहली शर्त होगी।

१--अति आध्यात्मिकता के व्यामोह ने हमारे चिंतन में एक बड़ा भारी विकार पैदा कर दिया [शायद सबसे बड़ा] जो बड़ी सूक्ष्मता से हमारी नश नाड़ियों में घुस गया है। सीधे सादे शब्दों में उसे कह दिया जाए 'हम जानने और मानने के अन्तर को भुला बैठे हैं। हम जिस चीज को मानते हैं लगता है जानते भी हैं और जिसे जानते हैं लगता है मानते भी हैं। वस्तुतः जानना और मानना परस्पर सम्बध होते हुए भी बड़े भिन्न हैं। जानना गति है और मानना स्थिति। हम मान तो बैठे हैं आर्य समाज या दयानन्द को जन्म से ही अथवा किन्हीं व्यवस्थाओं के प्रतिक्रियात्मक विद्रोह के परिणाम स्वरूप किन्तु जान तब भी नहीं पाये। जिज्ञासा, तर्क, बुद्धि, ज्ञान और अनुभव की एकीकृत परिभाषा है जानना और इसी जानने के प्रति आस्थावान् हो जाता है मानना। किसी समाज की चेतना जब मानना परक हो जाती है तो बड़ी खतरनाक स्थिति उत्पन्न होती है। व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास बंध

जाता है और समाज सीमित रह जाता है । तात्पर्य है कि आर्य समाज को मानने वाले लोगों में मुठ्ठी भर ही वे होंगे जो जानते हैं अथवा जानना चाहते हैं, क्योंकि 'जानने' में प्रयोग या अनुभव भी एक तत्व है जो व्यवहारिक रूपेण बड़ा कठिन है।

आर्य समाज के संदर्भ में आर्य समाजियों की मौलिक मान्यता ही सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है। वे उसे 'सुधारवादी संस्था' या सुधारवादी आंदोलन कहते हैं। यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भूल दयानन्द के बाद की ही है। उनके अनुयायी शायद यह समझे कि दयानन्द ने नया तो कुछ भी नहीं दिया, हां तत्कालिक व्यवस्था के सुधार की बात अवश्य कही है । साथ ही वह काल भी सुधारवादी आन्दोलनों का था । अतः वे भी सुधार–वादी ही हैं । सुधारवाद का अर्थ होता है पैबन्द लगाना और आन्दोलन का अर्थ एक बड़े पैमाने पर हलचल होता है। आन्दोलन बदलाव नहीं, बदलाव की सूचना मात्र है । दयानन्द की विचार धारा 'पैबन्दवादी बदलाव की सूचना या हलचल' कदापि नहीं, वह तो एक महान क्रांति थी। एक उदाहरण दूं महर्षि से पूछा गया था कि वेद और आर्य ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य पुराण आदि में भी बहुत अच्छाइयां भरी पड़ी हैं, अतः इन्हें अस्वीकार क्यों किया जाय ? कितना सीधा और साफ उत्तर दिया उन्होंने-'अत्युत्तम अन्न विषयुक्त होने पर छोड़ने योग्य है वैसे ही यह ग्रन्थ हैं।' महर्षि पैबन्दवादी नहीं क्रांतिकारी थे। दुर्भाग्य है देश के सुधार परस्त लोगों ने उनपर भी सुधारवाद का लेबिल लगा ही दिया, और आर्य समाजी आज तक 'मान' रहे हैं, 'जानना' चाहते नहीं ।

अब हमें यह जानना चाहिये कि दयानन्द की विचार धारा ही क्रांति थी ।

२. पीढ़ियों का संघर्ष हमेशा चला करता है। आज का यह संघर्ष वस्तुतः विकृति और संस्कृति का द्वन्द्व है। कृति जब तक अपने स्वाभाविक रूप में रहती है उसे प्रकृति कहा जाता है। किन्हीं बाहरी कारणों से इसमें विकार उत्पन्न होने लगे तो इसे विकृति, और यदि इसे संस्कारित किया

जाये तो इसे संस्कृति कहेंगे। विकृति और संस्कृति दोनों ही बनावटी हैं, एक दूसरे से उल्टी। जहां विकृति कृति की ऋणात्मकता की द्योतक है, वहीं संस्कृति धनात्मकता की। पुरातन संस्कार ग्रस्त है और नूतन विकारोन्मुख। साँस्कृतिक चेतना मनुष्य को धरती से उठाकर आसमान तक पहुंचाना चाहती है और विकार उसे धरती के अन्दर धँसा रहे हैं। संस्कृति विकृति पर विजय प्राप्त करना चाहती है, यही आज की सुधारवादी या संस्कृतिवादी संस्थाओं के कार्यक्रम हैं। वास्तव में यह पद्धति ही अवैज्ञानिक है। विकृति पर संस्कृति सीधे कभी विजय प्राप्त नहीं करती। विकृति और संस्कृति के बीच की स्वाभाविक अवस्था प्रकृति है—यहाँ प्रकृति का तात्पर्य भौतिकता या पदार्थता नहीं, स्वाभाविकता है। तो पहले प्रकृति विकृति पर विजय प्राप्त करे फिर संस्कृति प्रकृति पर, तभी समाज साँस्कृतिक हो सकेगा।

गुरु के पास दयानन्द पहुंचे थे पढ़े हुए अनेक पौराणिक ग्रथों के अध्ययन के पूर्वाग्रह के साथ। गुरु विरजानन्द ने व्याकरण और वेद पढ़ाना शुरू नहीं किया। पहले इन पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर स्वाभाविक रूप में आने को कहा और क्रांतिकारी दयानन्द ने वे सारे ग्रथ नदी में फेंक दिये हमेशा के लिए।

आज आर्यसमाज पर संस्कृति थोपने के बजाय उसे पहले स्वाभाविक अवस्था में लाया जाए तब सुसंस्कृत बनाया जाए। एक उदाहरण दूँ। आज समाज व्यवस्था का विकृत रूप जाति प्रथा है और संस्कृत रूप वर्ण व्यवस्था हो सकता है। सौ वर्षों में औरों की तो बात छोड़िये, कितने आर्य परिवार वर्ण व्यवस्था का पालन कर रहे हैं ?

एक बड़े पैमाने पर युद्ध स्तर पर जाति-पांति मिटाने का अभियान शुरू करने पर पहले समाज को स्वाभाविक रूप में लाया जाय तब फिर वर्ण व्यवस्था लागू की जाए। जाति-पांति में ही वर्ण व्यवस्था ठूँसना समाज को और भी विकृत करना है। आज आर्यसमाज को आदमी बनाने का काम शुरू करना है।

३. आज की तथाकथित प्रगति की बात की जाए। वस्तुतः भारतीय चिंतन पद्धति वृत्तीय हो गई है—एक निश्चित परिधि के अन्दर ही सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं हम, जिसका केन्द्र पुरातन है। और जिसे विकास की संज्ञा दी जाती है वह अपेक्षाकृत बड़े वृत्त का निर्माण है। किन्तु यह पद्धति ही दोषपूर्ण है। इसे बदलना होगा, और यह आर्यसमाज के द्वारा ही सम्भव है। महर्षि ने इसे अच्छी तरह समझ कर ही कहा था 'वेदों की ओर लौटो।' वेद चरम पुरातन हैं अतः पुरातन (केन्द्र) की ओर लौटना है। परिधि में घूमने की जगह केन्द्र पर पहुँचना है। और केन्द्र से फिर एक नवीन चिंतन पद्धति को जन्म देना है। पुरातन (केन्द्र) पर लौट आने का तात्पर्य यह नहीं कि आज की सभ्यता को छोड़कर पुरातन इतिहास की पुनरावृत्ति करने लग जाएं बल्कि यह कि उन शाश्वत मूल्यों को अंगीकार करने का उपक्रम करें जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। उदाहरणार्थ—ईशोपनिषद् कहता है—'यह धन किसका है—अर्थात् किसी का भी नहीं।' यदि हम आर्थिक प्रगति की बात करते हैं तो आज अर्थ चिंतन के वृत्त में न घूमकर इस शाश्वत चिंतन को स्वीकार करें।

केन्द्र पर आकर हमारे चिंतन की नवीन पद्धति कुण्डलाकार चिंतन पद्धति होगी। यदि एक सर्प की पूँछ को केन्द्र मान लिया जाय, तो वह जिस पद्धति से कुण्डली बनाकर बैठता है, वह कुण्डलाकार पद्धति हुई। इस पद्धति में चिंतन न तो रुढ़ी या संस्कार ग्रस्त होगा और न ही असंयत व उच्छृंखल। विकास की दिशा में समाज सर्वथा नया मार्ग बनाता रहेगा।

वर्तमान पद्धति में समाज पुरातन (केन्द्र) से आकर्षित जरूर रहता है, उससे ले कुछ भी नहीं पाता। किन्तु कुण्डलीय पद्धति में समाज कितना भी आगे बढ जाए, पुरातन से उसे खाद-पानी मिलता ही रहेगा।

४. भावना और बुद्धि जीवन के दो अत्यावश्यक पहलू हैं—व्यक्तिगत जीवन के भी और समाज के भी। बुद्धि का काम विश्लेषण करना है, तोड़ना है और भावना का काम जोड़ना है। बहुत अंशों में इनके सन्तुलन पर ही व्यक्ति या समाज की उन्नति आधारित है। भावना की अतिरेकता में अन्ध श्रद्धा या अन्धविश्वास जन्म ले लेते हैं और बुद्धि की अतिरेकता में अनास्था और अविश्वास उपजते हैं। भावना में बड़ी समांगता है और बुद्धि में विषमांगता। भावना तरल है और बुद्धि पदार्थ के चूर्ण की तरह, किन्तु इनको निश्चित अनुपात में मिला कर ही कोई स्थायी आकार दिया जा सकता है।

आज आर्य समाज बुद्धि तत्व प्रधान हो चला है, परिणामतः पारस्परिक प्रेम की जगह ईर्ष्या और द्वेष ने ले ली है। एक ईसाई धर्म प्रचारक में जितना प्रेम, आत्मीयता और संगठनात्मक आस्था मिलेगी, बिरले ही आर्यसमाजी में सम्भव है। आज आर्यसमाज कोई भी विस्तृत भावनात्मक कार्यक्रम देने में असमर्थ है। इसीलिए जिस शोषित, पीड़ित, आर्त्तनाद कर रही ग्रामों में बसी अशिक्षित मानवता के लिए देव दयानन्द का रास्ता ही एकमेव रास्ता है, वहाँ तक आर्यसमाज पहुंच ही नहीं पा रहा। आज भावना और बुद्धि के उचित सामंजस्य के साथ आम आदमी के मन को छू लेने वाला कार्यक्रम आर्यसमाज को देना है।

५. किसी भी संस्था की क्रियाशीलता के तीन आयाम होते हैं—विचार, आचार और प्रचार। संस्था विचार से जन्म लेती है। आचार से जीवित रहती है और प्रचार से उन्नति करती है। संगठन के अनुयायियों को पहले उसके प्रति विचारवान् होना चाहिये—फिर अपने स्वयं के जीवन में उतारने का यत्न करना चाहिए—तब अन्य लोगों में प्रचार करना चाहिए। ये तीनों आयाम क्रमबद्ध रूप से ही पूरे हो सकते हैं। यदि इनका क्रम टूट जाए तो बड़ी गड़बड़ हो जाती है। आर्य समाज के साथ भी ऐसा ही हुआ। अधिकतर आर्य समाजी मुख्यतः नेता वर्ग के लोग विचार के बाद सीधी छलाँग लगाकर प्रचार पर पहुंच जाते हैं। ऐसे भी बहुत हैं जो न तो विचार करते न आचार में लाते सीधा प्रचार शुरू कर देते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जो विचार करके आचार में ले आते हैं किन्तु प्रचार नहीं कर पाते। अब यह क्रम विचार, आचार और प्रचार की जगह, विचार और प्रचार, अथवा केवल प्रचार ही या विचार आचार बनकर रह गया है।

आवश्यकता इस बात की है कि योजनाबद्ध रूप से आर्य समाज इस स्वाभाविक क्रम का अनुसरण करे।

६. आर्य समाज को भी कुछ पुराने राजनीतिज्ञों ने राजनैतिक अखाड़ा बना लिया है। बड़ी सीधी बात है, इन्हें या तो भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों से अलग हो जाना चाहिए या आर्य समाज की ठेकेदारी से। इनके कारण ही आर्य समाज की मौलिक छवि नष्ट हो रही है और उसका क्रांतिकारी स्वरूप सुधारवादी आन्दोलन का रूप ले बैठा है। यदि ये लोग राजनीति को जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग ही मानते हैं तो आर्य समाज को स्वयं अपना आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करना चाहिये। मैं फिर दोहरा दूँ महर्षि समग्र क्रांति के अग्रदूत थे, उन्होंने राजनैतिक पक्ष को भी अछूता नहीं छोड़ा। वास्तव में आर्य समाज के अन्दर ऐसी कोईकमी नहीं कि किसी को आज की थोथी राजनैतिक दलबन्दियों का मुंह ताकना पड़े।

अन्त में, आज इतना सारा ईधन इकट्ठा हो चुका है कि बस अग्नि प्रज्वलित करने की आवश्यकता है। अपने–२ क्षेत्र में कुछ आर्य युवकों के स्वय जलने और आग लगा देने की जरूरत है अज्ञान के अंधकार में।

उठो मेरे भाइयो! आज तुम में से कुछ लोग भी दृढ़ संकल्प के साथ ओ३म् की पावन अरुण ध्वजा हाथ मे लेकर उठ खड़े हो जाएं, तो कल जमाना तुम्हारे चरण चूमेगा।